॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक तीसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आषाढ़
२४७४

चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा

प्रश्न :—यह ठीक है कि चैतन्यस्वभाव पर का कुछ नहीं करता, किन्तु ऐसी श्रद्धा कैसे रह सकती है ? बहुत से लोग मर रहे हों, तब ऐसी श्रद्धा कैसे रह सकती है कि 'मैं ज्ञाता हूँ ?'

उत्तर :—कौन यह श्रद्धा रखे ? यह श्रद्धा कोई जड़ रखता है या चेतन ? मैं चैतन्य तो सदा ज्ञाता ही हूँ। जब वे लोग जीवित थे, तब उन्हें जानता था, और जब वे मरे, तब वैसा जाना। अज्ञानी यह माने कि मैं उन्हें बचा लूँ, किन्तु वह किसी पर को बचाने में समर्थ नहीं है। ज्ञानी या अज्ञानी के परजीवों को बचाने का भाव होता है; वहाँ ज्ञानी यह समझता है कि मैं परजीवों के बचाने में समर्थ नहीं हूँ, और जो शुभ भावना हुई है, वह भी मेरे चैतन्यस्वभाव का कार्य नहीं है; मेरे चैतन्यस्वभाव का कार्य तो चैतन्यस्वभाव में रहकर जानता ही है; जो शुभ भावना हुई है, उसका भी वास्तव में मैं ज्ञाता ही हूँ।

अज्ञानी यह मानता है कि बहुत से जीव मरे जा रहे हों, तब-उस समय उन्हें बचाना अपना कर्तव्य है, और उन्हें बचाने का शुभभाव चैतन्य का कर्तव्य है। इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने को परपदार्थ का और विकार कर्ता मानता है; उसे पर से और विकार से भिन्न चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा नहीं है। चैतन्य का स्वभाव तो तीनकाल और तीनलोक को एक ही साथ जानना है। भला फिर, तीनकाल और तीनलोक में क्या शेष रह जाता है ? इसलिये चाहे जिस प्रसंग पर भी चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा बनी रहती है। वह श्रद्धा चैतन्याश्रित ही है, पराश्रित नहीं। *[श्री समयसार-मोक्षाधिकार के व्याख्यानों से]*

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग दर्शक मासिक पत्र ३९

एक अंक चार आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

ज्ञानियों का उपदेश तेरे हित के लिये है!

विकारीभाव में शुभ और अशुभ भेद व्यवहार से है; परमार्थ से तो शुभ और अशुभ दोनों एक ही जाति के हैं; अध्यात्मशास्त्र में उसे 'अशुभ' कहा जाता है। सभी विकार अशुभ ही हैं। पुण्य और पाप दोनों के फल में संसार ही है। एक ओर सम्पूर्ण संसारभाव और दूसरी ओर मात्र सम्पूर्ण स्वभावभाव है। सारा संसारभाव अशुभ ही है, फिर चाहे वह पुण्य हो या पाप; वह शुभ नहीं है। स्वभावभाव ही निश्चय से शुभ है। उसी को शुद्ध कहा जाता है, और वही धर्म है। अशुभभाव ही अधर्म है। उसमें पुण्य-पाप दोनों का समावेश हो जाता है।

ज्ञानियों ने पुण्य और पाप को समान कहा है; इसका यह अर्थ नहीं है कि वे पुण्यभाव को छोड़कर पापभाव करने को कहते हैं; किन्तु जो जीव, धर्म के जिज्ञासु हैं, उन्हें ज्ञानीजन समझाते हैं कि—भाइयो! पुण्य और पाप-दोनों भावों से बंध होता है,-दु:ख होता है, और तुम्हारा स्वभाव तो इन पुण्य-पाप दोनों से रहित सिद्ध के समान शुद्ध है। अपने ऐसे शुद्धस्वभाव को समझो और उसकी प्रतीति करो तो धर्मलाभ होगा, और अविनाशी आत्मकल्याण होगा। किन्तु यदि स्वभाव को समझे बिना पाप को कम करके पुण्य करे तो उतने मात्र से बंधन दूर नहीं हो जाता, और उससे आत्महित नहीं होता। जिस पुण्य को तुम अच्छा मान रहे हो, वह तो तुमने अनन्तबार किया है, परन्तु उससे आत्म-कल्याण नहीं हुआ। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि आत्मकल्याण का सच्चा उपाय पुण्य नहीं, किन्तु उससे भिन्न कोई दूसरा उपाय है। ऐसा समझकर अपने आत्म-स्वभाव को पहचानने का मार्ग ग्रहण करो, और पुण्य को आत्मकल्याण का उपाय, कारण या हेतु मत मानो।

हे भव्य! पुण्य से धर्म नहीं होता, और जड़ की क्रिया को आत्मा नहीं कर सकता, इत्यादि प्रकार से उपदेश देकर ज्ञानी तुझे तेरे हित का उपाय बतलाते हैं, और तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सद्धर्म में लगाना चाहते हैं। वे कहीं धर्म से छुड़ाने या तेरा अहित करने के लिये उपदेश नहीं देते!

भले ही पुण्यभाव हो या पापभाव हो जाय, किन्तु तू इतना तो अवश्य समझ कि वे पुण्य-पाप दोनों विभाव हैं, उससे आत्मा बंधता है, इसलिये उन भावों में मेरा हित नहीं हैं, मेरे आत्मस्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है। यदि इसप्रकार स्वभाव और विभाव के भिन्नत्व की श्रद्धा तथा

ज्ञान को बनाये रखेगा तो भी तेरे अवतार का (जन्म-मरण का) अल्पकाल में ही अन्त हो जायगा। किन्तु यदि पुण्य में ही हित मान लेगा तो कभी तेरे जन्म-मरण का अन्त नहीं होगा। तू अपने आत्मा में ही विचार कर देख कि पुण्यबंध का फल तो संसार ही होता है; तब फिर-जिसका फल संसार है, उससे आत्महित कैसे हो सकता है ?

इसीप्रकार 'जड़ शरीर की क्रिया से धर्म नहीं होता', इस सत्य को समझाकर ज्ञानीजन कहीं तुझे धर्म से नहीं छुड़ाना चाहते, किन्तु वे तुझे सत्यधर्म में लगाते हैं। 'मैं जड़ शरीर की क्रिया करूँ, उससे मुझे धर्म होगा' यह मानकर तू अपने आत्मा की सच्ची क्रिया को भूल रहा है। तू विवेकपूर्वक देख तो सही, कि तू चैतन्यस्वरूप आत्मा है। क्या तेरा धर्म जड़ की क्रिया में हो सकता है ? तू जड़ की क्रिया में तथा विकारभाव में धर्म मानकर प्रतिक्षण अपना अपार अहित कर रहा है। इसलिये ज्ञानियों को तेरी दया आती है, और वे तुझे तेरे परमहित का सत्यमार्ग बतलाते हैं। ज्ञानियों का उपदेश तेरे हित के लिये ही है, इसलिये हे भव्य जीव ! तू उसका विरोध मत कर, किन्तु पात्र होकर शान्तिपूर्वक अपने आत्मकल्याण के लिये, ज्ञानीजन जो उपाय बतालते हैं, उसे समझने का प्रयत्न कर। इसके लिये ज्ञानी को पहचानकर उनकी शरण में अर्पित हो जा। ऐसा करने से तेरे भवबंधन की बड़ी अवश्य टूट जायेगी।

ऐसा मनुष्यभव मिला है, ज्ञान की प्रगटता हुई है, जैनशासन की प्राप्ति हुई है, और सत्समागम मिला है; ऐसे शुभप्रसंग पर भी यदि अपने आत्मा को नहीं पहचानेगा तो फिर कब पहचानेगा ? यदि आत्मस्वभाव के परमशान्त आनन्द का परिचय और अनुभव नहीं हुआ तो जीवन का अर्थ ही क्या है ? जैनशासन में आकर भी यदि आत्मा के परिचय का सच्चा मार्ग ग्रहण न करे तो जो यह मनुष्यभव मिला, सो किस काम का ? मरुभूमि के भ्रमण से थककर कोई मृग सरोवर के तट पर आ गया हो तो फिर वह पानी पिये बिना कैसे लौट जायगा ? इसीप्रकार हे भाई ! यदि तू जन्म-मरण के परिभ्रमण से थक गया हो, और उस दुःख से छूटकर यदि तुझे आत्मिकसुख का अनुभव करना हो तो ज्ञानी पुरुषों की शीतल छाया में विश्राम कर। सन्त पुरुषों के समागम से तू आत्मा का अभ्यास कर। उससे तुझ अवश्य ही धर्म की प्राप्ति होगी और तेरा अविनाशी हित होगा। ●

अहिंसा और हिंसा

[गतांक से आगे]

[पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ४२ से ९० के आधार से]

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणारेपि हिंसा वैचित्र्यमत्रफलकाले॥५३॥

अर्थः—दो पुरुषों के द्वारा एक ही साथ मिलकर की गई बाह्य-हिंसा उदयफलकाल में विचित्रता को प्राप्त होती हैं, अर्थात् वही हिंसा एक को तो तीव्र फल देती हैं, और वही दूसरे को अल्प फल देती है।

भावार्थ :—दो पुरुष मिलकर कोई हिंसा करें, फिर भी उनके परिणामों में अन्तर होता है। जिसके परिणाम तीव्र कषायरूप होते हैं, उसके तीव्र हिंसा होती है और उसी समय जिसके परिणाम मन्दकषायरूप होते हैं, उसके अल्प हिंसा होती है। इससे यह निश्चित समझना चाहिये कि बाह्य क्रियाओं का फल आत्मा को नहीं होता किन्तु अपने परिणाम का ही फल होता है। बाह्य क्रियाऐं आत्मा से भिन्न होती हैं; इसलिये आत्मा न तो उनका कर्ता है और न भोक्ता।

हिंसा और अहिंसा का स्वरूप बताने के बाद आचार्यदेव तीव्र हिंसा-स्थानों का त्याग कराने के लिये उनका वर्णन करते हैं:—

मद्यं मांस क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तिव्यानि प्रथमसेव॥६१॥

अर्थः—हिंसा का त्याग करने के इच्छुक पुरुषों को सर्वप्रथम यत्नपूर्वक मद्य, माँस और मधु तथा पाँच उदंबर फलों का त्याग करना चाहिये।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसाम विशङ्कमाचरति॥६२॥
रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥६३॥

अर्थः—मद्य (शराब) मन को मोहित कर देती है और मोहितचित्त पुरुष, धर्म को भूल जाता है, तथा धर्म को भूला हुआ जीव निःशंक होकर हिंसामय आचरण करता है। मदिरा रस में उत्पन्न होनेवाले बहुत से जीवों का उत्पत्तिस्थान कहलाती है, इसलिये जो मदिरा का सेवन करते हैं, उन्हें उन जीवों की हिंसा अवश्य लगती है।

न विना प्राणविद्यातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांस भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥
यदपि किल भवति मांस स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥
आमास्वपि पक्कास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७॥
आमां वा पक्कां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

अर्थ :—प्राणियों का घात हुए बिना माँस की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिये माँसभक्षी पुरुष को अवश्य ही हिंसा लगती है। यद्यपि स्वयमेव मरे हुए भैंस-बैल इत्यादि का माँस (उनका घात किये बिना ही) होता है, किन्तु उसमें भी उस जाति के अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, इसलिये उस माँस-भक्षण से उनकी हिंसा होती है। कच्चे-पके अथवा पकते हुए माँस पिण्डों में उस-उस जाति के सम्मूर्च्छन जीवों की निरंतर उत्पत्ति होती है। माँस की सर्व अवस्थाओं में उस उस जाति के नये-नये अनन्त जीवों की उत्पत्ति हुआ करती है, अर्थात् माँस कभी भी अचेतन नहीं हो सकता। जो जीव कच्चे अथवा पके हुए माँस का भक्षण करता है, अथवा उसका स्पर्श भी करता है, वह निरन्तर एकत्रित हुए अनेक जाति के बहुत से जीवों के समूह की हिंसा करता है।

मधुकलशमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढ धीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥
स्वयमेव विगलितम् यो गृहणीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणीनां घातात् ॥७०॥

अर्थः—इस जगत् में मधु की एक-एक बूँद भी मक्खियों की हिंसा से भरी हुई है, इसलिये जो मूर्ख-बुद्धि पुरुष, मधु का सेवन करता है, वह अत्यंत हिंसक है। शहद के छत्ते में से कपट से अथवा स्वयमेव गिरते हुए शहद को ग्रहण करने में भी उसके आश्रयभूत जीवों का घात होने से हिंसा होती है।

भावार्थ :—मद्य, माँस, मधु इत्यादि पदार्थों के प्रति होनेवाला राग अनन्तानुबन्धी हिंसा है। जिसे ऐसे पदार्थों के ग्रहण करने की इच्छा होती है, वह मिथ्यादृष्टि होता है। मद्य, माँस, मधु इत्यादि वस्तुओं के स्पर्श में भी महापाप है।

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥७४॥

अर्थ :—दुःखदायक, दुस्तर और पापों के स्थानभूत इन (तीन मकार और पाँच उदुम्बर) आठ पदार्थों का परित्याग करके निर्मलबुद्धिवाले जीव जिनधर्म की देशना सुनने के पात्र होते हैं।

भावार्थ :—मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों के प्रति होनेवाला राग महापाप है। जिसके यह तीव्र रागभाव विद्यमान है, वह जीव जिनधर्म का उपदेश सुनने का पात्र नहीं है। इसलिये उसका त्याग करने से ही जीव सद्धर्म का उपदेश सुनने का पात्र होता है।

इस सम्बंध में पंचाध्यायी के दूसरे अध्याय के ७२४-७२५-७२६ वें श्लोकों में इसप्रकार कहा गया है:—

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथांगिनाम्॥७२४॥

अर्थ :—यह अष्टमूलगुण (मद्यादि का त्याग) स्वभाव से अथवा कुल-परम्परा से गृहस्थ को प्राप्त होते हैं, और यह स्पष्ट है कि इन मूलगुणों के बिना जीव को किसी प्रकार का व्रत अथवा सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

एतावता विनाप्येव श्रावको नास्ति नामतः।
किं पुनः पाक्षिको गूढ़ा नैष्ठिकः साधकोऽथवा॥७२५॥

अर्थ :—इन मूलगुणों के बिना जीव नाममात्र से भी श्रावक नहीं हो सकता, तब फिर पाक्षिक, गूढ़, नैष्ठिक अथवा साधक श्रावक तो कैसे हो सकता है ?

मद्यमांसमधुध्यागी त्यक्तोदुम्बर पंचकः।
नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथाऽपि तथागृही॥७२६॥

अर्थ :—मद्य, माँस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग करनेवाले गृहस्थ नाम से श्रावक कहलाते हैं। किन्तु उनका सेवन करनेवाले गृहस्थ नाम से भी श्रावक नहीं कहलाते।

पूज्यपाद श्रावकाचार के तेरहवें श्लोक में कहा है कि:—

मद्यमांसमधु त्यागैः सहोदुंबर पंचकैः।
गृहिणां प्राहुराचार्या अष्टौ मूलगुणानिधि॥१३॥

अर्थ :—मद्य, माँस और मधु इन तीन 'म' कार और पाँच उदुम्बर फलों का मरणपर्यंत त्याग करना, सो गृहस्थ के आठ मूलगुण हैं।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है कि :—

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोपि ये परित्यक्तम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसा तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५॥

अर्थ :—जो जीव संपूर्ण अहिंसा-स्वरूप वीतराग धर्म का श्रवण करके भी स्थावर जीवों की हिंसा का परित्याग करने में असमर्थ हों, वे भी त्रस जीवों की हिंसा का तो अवश्य त्याग करें।

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा।
अवलोक्य वालिशानासमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥

अर्थ :—मोक्ष की कारणभूत परम अहिंसारूपी रसायन के प्राप्त होने पर, किन्हीं अज्ञानी जीवों के असंगत वर्ताव को देखकर धर्मात्मा पुरुषों को व्याकुल होना उचित नहीं है।

भावार्थ:—किसी जीव को हिंसा करते हुए भी बाह्य में अनुकूल सामग्री (वैभवादि) युक्त देखकर और स्वयं अहिंसाधर्म का पालन करता हुआ भी अपने को प्रतिकूल (दारिद्रयादि) सामग्रीयुक्त देखकर अथवा मिथ्यादृष्टि को हिंसा में धर्म मनाते या उन मान्यता को पुष्ट करते देखकर धर्मात्मा पुरुषों को अहिंसामय जैनधर्म से (आत्म-स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से) चलायमान होना योग्य नहीं है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि वर्तमान में हिंसकभाव करते हुये जीव के कदाचित् अनुकूल सामग्री हो तो वह उसके वर्तमान हिंसाभाव का फल नहीं है। हिंसाभाव के फलस्वरूप तो वह स्वयं वर्तमान में ही तीव्र आकुलता का दु:ख अनुभव कर रहा है, उसके शुद्धोपयोग का घात हो रहा है, जिसके बाह्यफल के रूप में भविष्य में नरकादिक दुर्गतियों में जायेगा। वर्तमान में जो अनुकूलता दिखाई देती है, वह पूर्व-पुण्य का फल है। इसीप्रकार किसी अहिंसक धर्मात्मा के वर्तमान में कदाचित् प्रतिकूल संयोग दिखाई दें तो उसका कारण वर्तमान अहिंसाभाव नहीं, किन्तु पूर्वकृत अशुभकर्म का उदय है। वर्तमान में जो शुद्ध अहिंसाभाव है, उसके फलस्वरूप तो उसी समय अनाकुलतारूप सुख का वेदन है, और शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है, तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, और उस शुद्धभाव के साथ अपूर्णदशा में जो शुभभावरूप अहिंसा होती है, उसका फल स्वर्ग है, इसलिये बाह्य सामग्री को देखकर हिंसा-अहिंसा का माप नहीं निकाला जा सकता, किन्तु जीव के अपने भाव पर से ही उसका माप होता है। उसका फल भी उसी समय जीव को अपने भाव में अनुभव होता है।

सूक्ष्मोभगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या॥७९॥

अर्थ:—भगवत् धर्म सूक्ष्म है, इसलिये धर्म के लिये हिंसा करने में दोष नहीं है। इसप्रकार धर्ममूढ़ता से भ्रमितहृदय पुरुषों को कभी भी शरीरधारी प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ :—जहाँ हिंसा बुद्धि है, वहाँ धर्म कदापि नहीं होता।

बहुसत्वघातजननिता दशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥८२॥

अर्थ :—'बहुत से प्राणियों के घात से उत्पन्न हुए (अन्नादि के) भोजन की अपेक्षा एक ही (बड़े) जीव के घात से उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है,' इस विचार से कभी भी (गाय, भैंस, बकरा इत्यादि) बड़े जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये।

भावार्थ :—'अन्नादि के आहार में अनेक जीव मरते हैं, इसलिये उसके स्थान पर एक बड़े जीव को मारकर खा लेना अच्छा है'—ऐसा कुतर्क करना भी अज्ञान ही है; क्योंकि हिंसा कषायपूर्वक प्राणघात से होती है, एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीव के द्रव्यप्राण तथा भावप्राण अधिक होते हैं, और पंचेन्द्रिय जीव का घात करने का भाव अत्यधिक तीव्र कषाय है, इसलिये उसमें तीव्र हिंसा-पाप है। एकेन्द्रिय जीव के घात से दो इन्द्रिय जीव के घात करने के भाव में असंख्यातगुना पाप है, तब फिर पंचेन्द्रिय जीव का घात करने का जो भाव है, उसके पाप की तो बात ही क्या कहना है ?

रक्षाभवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्वानाम्॥८३॥

अर्थ:—'इस एक जीव के मार डालने से बहुत से जीवों की रक्षा हो जायेगी' ऐसा मानकर भी हिंसक जीवों की हिंसा कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ :—कुछ लोग यह मानते हैं कि 'बिच्छू, साँप, सिंह इत्यादि हिंसक प्राणियों को मार डालना चाहिये, इससे अनेक जीवों की रक्षा हो जायेगी;' किन्तु वे अज्ञानी हैं। क्योंकि जो जीव, हिंसा भाव करते हैं, वे स्वयं ही अशुभ बंध के भागीदार होते हैं, तब फिर हमें उन जीवों को मारने का भाव करके पाप का उपार्जन क्यों करना चाहिये ?

कोई जीव पर को नहीं मार सकता, किन्तु परजीवों को मारने का भाव, मिथ्यात्व तथा

अनन्त संसार की कारणरूप कषाय का पोषक होने से स्वयं जीव को-अपने को ही हानि करता है। कोई भी जीव मारनेयोग्य है—ऐसी बुद्धि संकल्पी हिंसा है, और वह हिंसाभाव मिथ्यादृष्टि से ही होता है, उस भाव से अपनी ही महाहिंसा होती है। इसलिये हिंसक जीवों को भी मार डालने का भाव छोड़ देना चाहिये।

बहुसत्व घातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

अर्थ :—'बहुत से जीवों का घात करनेवाले यह जीव यदि जीवित रहेंगे तो अधिक पापबंध करेंगे' इसप्रकार की दया करके भी हिंसक जीवों को नहीं मारना चाहिये।

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासना कृपाणीमादाय नदुःखितोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

अर्थ :—'अनेक दुःखों से पीड़ित होनेवाले इन जीवों को मार डालने से यह शीघ्र ही दुःख से मुक्त हो जायेंगे' इसप्रकार की वासनारूपी तलवार को ग्रहण करके दुःखी जीवों को भी नहीं मारना चाहिये।

भावार्थ :—'दुःखी जीवों को मार देने से वे दुःख मुक्त हो जायेंगे' यह नास्तिक जीव की मान्यता है। शरीर का त्याग कर देने से कहीं जीव, दुःख से मुक्त नहीं हो जाता क्योंकि दुःख तो अपने कषाय भाव का है, इसलिये दुःखी जीव को भी मारने का भाव घोर अज्ञान और हिंसा है। जीव को सुख यथार्थ समझपूर्वक सत्यधर्म के आराधन से ही होता है। जो जीव, दुःखी हो रहा है, वह अपने अज्ञान और कषायभाव से ही हो रहा है, इसलिये यदि वह अपने अज्ञान और कषायभाव को दूर करे, तभी उसका दुःख दूर हो सकता है। अर्थात् सुख का उपाय सच्ची समझ और वीतरागभाव है।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमासदानरभसादालभनीया नचात्मापि ॥८९॥

अर्थ :—भोजन के लिये निकट आये हुए क्षुधातुर मनुष्य को देखकर उसे अपने शरीर के माँस का दान देने के लिये अपना घात करना भी योग्य नहीं है।

भावार्थ:—कोई माँसभक्षी जीव भोजन की याचना करे तो उसे माँस का दान देना योग्य नहीं है। माँसादि का दान, शास्त्र और धर्म से विरुद्ध है। अमुक राजा ने अपने शरीर का माँस काटकर अमुक पक्षी को खिलाकर उसे मरने से बचा लिया था, वह कहकर उस राजा की प्रशंसा करना धर्ममूढ़ता है। माँसाहार का समर्थन अथवा माँस का दान देना महापाप है।

को नाम विशति मोहं नयभंग विशारदानुपास्यगुरुन्।
विदितजिनमतरहस्यः अयन्नहिंसा विशुद्धमतिः ॥९०॥

अर्थ :—सम्यक्ज्ञान के भेदों को जानने में (नयभंगों को जानने में) प्रवीण श्रीगुरुओं की उपासना से जिनमत के रहस्य को जाननेवाले निर्मलबुद्धिधारी और अहिंसास्वरूप धर्म को जानकर उसे अंगीकार करनेवाले भव्यात्माओं में ऐसा कौन होगा कि जो पूर्वकथित हिंसकमतों से मूढ़ता को प्राप्त होगा ?

भावार्थ :—जो पुरुष परम अहिंसामय जिनधर्म को जान चुका है, वह कुतर्कियों के हिंसामय मिथ्यामतों में कभी भी श्रद्धा नहीं करता।

हिंसा-अहिंसा का यथार्थस्वरूप जाने बिना कोई भी जीव कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता। प्रत्युत वह अपने को अहिंसावादी मानकर मिथ्यात्वभावरूप महापाप को पुष्ट करता है। इसलिये आत्मार्थी जीवों को हिंसा-अहिंसा का यथार्थ स्वरूप जानकर हिंसामय भावों का त्याग करना चाहिये।●

चर्चा और व्याख्यान

(पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा श्री समयसार गाथा १३ तथा श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका के ऋषभजिनस्तोत्र पर दिये गये व्याख्यानों और तत्सम्बन्धी चर्चा का सार यहाँ दिया जा रहा है। इससे पूर्व के अंकों में ७२ बातें की जा चुकी हैं, उससे आगे का भाव यहाँ प्रगट किया जा रहा है।)

(७३) आचार्यदेव ने अनेकप्रकार से भगवान की भक्ति की है, अब वे भक्ति के विकल्प को हटाकर स्वरूप में अन्तर्लीन होने की भावना करते हुए कहते हैं कि—हे नाथ! आत्मस्वभाव अनन्तगुणस्वरूप है, मैं इस विकल्प के द्वारा कितने गुणों को कह सकता हूँ ? विकल्प द्वारा आत्मा विकसित नहीं होता। वीतराग की वाणी-सरस्वती द्वारा भी केवली भगवान के संपूर्ण गुण नहीं कहे जा सकते।

त्रिभुवन की स्तुति के पात्र हे जिनेन्द्र! इस जगत में सर्वोत्कृष्ट वाणी सरस्वती आपकी स्तुति

करती है, वह भी जब आपके गुणों का पार नहीं पा सकती, तब अन्य मूर्ख (छद्मस्थ) मनुष्य उस स्तुति के द्वारा आपके गुणों का पार कैसे पा सकते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि:—

जे पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ज्ञान मां,
कही शक्या नहिं ते पण श्रीभगवान जो;
तेह स्वरूप ने अन्य वाणी तो शुं कहे,
अनुभवगोचर मात्र रहयुं ते ज्ञान जो ॥ ॥अपूर्व० ॥२०॥

हे नाथ! हे अनंतगुणभण्डार आत्मन्! जिन्हें केवलज्ञान प्रगट हुआ है, ऐसे वीतराग की दिव्यवाणी भी तेरे स्वरूप को संपूर्णतया कहने में समर्थ नहीं है, तब फिर अन्य की वाणी से तो क्या कहा जा सकता है? वह तो मात्र अनुभवगम्य है। सरस्वती भी आत्मा के स्वरूप को नहीं पा सकती अर्थात् वाणी की ओर के विकल्प से आत्मा का स्वभाव नहीं खिलता किन्तु वाणी का विकल्प छोड़कर आत्मा का अनुभव होता है, उसकी यहाँ भावना है।

(७४) किसी के अल्पगुणों को बढ़ाकर विशेषरूप से कहने को जगत में स्तुति कहा जाता है, किन्तु हे प्रभो! आप में जितने गुण हैं, उन्हें भी हम वाणी द्वारा संपूर्णतया वर्णन नहीं कर सकते, इसलिये वाणी के द्वारा आप का स्तवन पूरा नहीं होता। आपके अनन्तगुणों के अपार भाव को यह स्तुति का विकल्परूप मर्यादित राग नहीं पहुँच सकता। इसलिये हम इस विकल्प को तोड़कर यह राग दूर करके स्वरूप की निर्विकल्प श्रेणी द्वारा जब केवलज्ञान प्रगट करेंगे, तब ही स्वभाव के पार को प्राप्त किया जा सकेगा।

(७५) यहाँ राग और स्वभाव का भेदज्ञान बताया है। भले ही स्तुति का राग है, किन्तु उसे वीतराग भक्त, स्वभाव के साधन के रूप में नहीं मानते। राग होने पर भी उससे कदापि वीतरागता नहीं होती। वाणी में सर्वोत्कृष्ट सरस्वती भी आपके गुणों का वर्णन करने में थक जाती है; तब फिर हम छद्मस्थ पामर जीव उसका कैसे वर्णन कर सकते हैं?

यह स्तुतिकार स्वयं महान संत निर्ग्रंथ मुनि हैं, तथापि वे भगवान के निकट अपनी कितनी पामरता का वर्णन कर रहे हैं! जिसे पूर्ण स्वभाव की विनय प्रगट हो गई हो, उसे अपूर्ण पर्याय का अहंकार कैसे हो सकता है? पंचमकाल के संत मुनियों में केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी है, किन्तु अभी बीच में एक भव शेष है, इसलिये वे केवलज्ञान के लिये लालायित हैं। आचार्यदेव यह स्तुति करते हुए वास्तव में अपने स्वभाव का बहुमान करके केवलज्ञान की भावना को बढ़ाते हैं। हे

नाथ! आपके अपार केवलज्ञान के निकट तो हम मूर्ख हैं, हम जैसे छद्मस्थ जीवों के ज्ञान पर अभी आवरण विद्यमान है, ज्ञान का पुरुषार्थ अल्प है, फिर भी आपकी आड़ लेकर आप जैसा ही परिपूर्ण स्वभाव स्वीकार करके उसके बल से कहते हैं कि अपूर्ण ज्ञान या निर्बल पुरुषार्थ हमारा स्वरूप नहीं है। हमारा स्वभाव केवलज्ञान जितना ही है। इसप्रकार द्रव्य और पर्याय की संधि के द्वारा पूर्णता के प्रति पुरुषार्थ प्रारम्भ करते हैं।

(७६) कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्ररूप असत् निमित्तों को मानना, सो बाह्य-स्थूल असत्य है और अंतरंग में विकल्पों के द्वारा लाभ होने की मान्यता भी असत् है, वह सूक्ष्म मिथ्यात्व है। जिसे कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की मान्यतारूप बाह्य-स्थूल असत्य छोड़ने की बात भी कठिन मालूम होती है, वह जीव आंतरिक विकल्पों से रहित आत्मा की श्रद्धा कैसे करेगा? जो अभी मिथ्या निमित्तों की मान्यता को भी नहीं छोड़ता, वह निमित्तों की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष स्वभाव को कैसे स्वीकार करेगा? जिसमें एक पैसा देने की भी शक्ति नहीं है, वह लाखों का दान कैसे देगा? ज्ञानियों ने कहा है कि माँस भक्षण इत्यादि सप्तव्यसनों की अपेक्षा कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के आदर करने का पाप अधिक है। आत्मस्वभाव की विपरीत मान्यता को पुष्ट करनेवाले कुदेवादि को मानने के बराबर महापाप विश्वभर में नहीं है। कुदेवादि के दोष तो उन्हीं के पास रहे किन्तु अज्ञानी उन्हें मानने से स्वयं अपने स्वभाव की विराधना करके आत्मघात करते हैं। जो सत्यस्वभाव से विपरीत मान्यता करता है, वह आत्मा के अनन्त गुणों का, अनन्त केवली तीर्थंकरों का, संत मुनियों का और ज्ञानियों का अनादर करता है तथा उनके शत्रु-कुदेवादि का आदर करता है। इसप्रकार अनन्त विपरीत का आदर ही अनन्त पाप है।

(७७) पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि—

''कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र के सेवन से मिथ्यात्वभाव को पुष्ट होता जानकर यहाँ उसका निरूपण किया है।'' श्री अष्टपाहुड़ में भी कहा है कि—जो लज्जावश अथवा बड़प्पन से भी कुत्सित् देव, धर्म और लिंग को वंदन करता है, वह मिथ्यादृष्टि है; इसलिये जो मिथ्यात्व का त्याग करना चाहता है, वह कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का पहले ही त्यागी होता है।....और कुदेवादि के सवने से जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह हिंसादि पापों से भी महान पाप है क्योंकि उसके फल से नरक-निगोदादि की पर्याय प्राप्त होती है, वहाँ जीव अनन्तकाल तक घोर संकट प्राप्त करता है और सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति महादुर्लभ हो जाती है।''

(७८) वणिक चारों ओर का हिसाब लगाता है, किन्तु वह धर्म के बहाने ठगा जाता है। उसे बकरे कटने में हिंसा भासित होती है और वह उसमें साथ नहीं देता, किन्तु उसे मिथ्यात्व का महापाप भासित नहीं होता और वह विपरीत मान्यता के पोषक कुदेवादि का साथ देता है। उसे यह ज्ञात नहीं है कि मिथ्यात्वसेवन में अनन्त बकरों के काटने का पाप भरा हुआ है। बाह्यक्रिया की बात नहीं, किन्तु अंतरंग में विपरीत परिणाम का महापाप भरा हुआ है। सर्वज्ञ से विपरीत एक भी मान्यता स्वीकार करे अथवा सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी भी देव को सच्चा माने तो उससे अनन्त जन्म-मरण होते हैं।

(७९) जैसे खरे-खोटे की परीक्षा किये बिना कोई हीरा-मोती इत्यादि को नहीं लेता, उसीप्रकार धर्म के लिये तीन रत्नस्वरूप देव, गुरु, शास्त्र के खरे-खोटे का जिसे विवेक नहीं है-परीक्षा नहीं है, वह घोर अज्ञानी है, उसे धर्म की चिंता नहीं है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के सेवन के महापाप को छोड़ने के बाद और सच्चे देव, गुरु, धर्म को जानने के पश्चात् भी, जो नवतत्वों के विकल्प उठें, उनकी श्रद्धा को छोड़कर मात्र एक चैतन्यमात्र आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर प्रतीति करना, सो सम्यक्दर्शन है; यह बात श्री समयसारजी में स्पष्टतया कही गई है। किन्तु पहले कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का सेवन छोड़े बिना इस बात को समझने की पात्रता नहीं आती; इसलिये जिसे आत्मस्वभाव को समझकर धर्म धारण करना हो, उसे पहले सच्चे देव, गुरु, शास्त्र कौन हैं तथा कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र कौन हैं—यह जानकर उनके सेवन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। कुगुरु, कुदेवादि के सेवन से मिथ्यात्वरूप महापाप की पुष्टि होती है तथा अनन्त संसार बढ़ता है।

(८०) कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आत्मा के साक्षात् घातक हैं, यह समझे बिना आत्मकल्याण के मार्ग पर किंचित्मात्र भी नहीं चला जा सकता। जगत के कार्यों को परिचय प्राप्त करके ही मानता है, किन्तु आत्मा के कार्य में चाहे जैसी गड़बड़ी मचाये तो कैसे चल सकता है ? जीव अपनी भूल के कारण ही अनन्त जन्म-मरणों में पड़ा हुआ है, इसलिये भूल को दूर करके निर्दोष और निःशंक समझ प्राप्त करनी चाहिये।

(८१) **प्रश्न**—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का चिन्ह क्या है ?

उत्तर—राग से धर्म मनाये, आत्मा को जड़ का कर्ता बतलाये तथा पर से लाभ-हानि का होना मनवाये, सो यह सब कुगुरु, कुदेव, कुधर्म के चिन्ह हैं।

(८२) आर्य जीव, हिंसादि के परिणामों को तो पाप के रूप में जानते हैं और उनके होने का

खेद भी करते हैं, किन्तु कुदेवादि का सेवन करनेवाला उसमें धर्म मानता है, वह विपरीत मान्यता का त्रैकालिक पाप है। यदि हिंसा परिणाम को करनेवाला उसे अच्छा माने तो वह विपरीत मान्यता का त्रैकालिक पाप है, क्योंकि जिसने एक विकारी परिणाम को अच्छा माना है, उसने त्रिकाल के समस्त विकार परिणामों को अच्छा माना है, वह अनंत पाप है।

(८३) चक्रवर्ती के यहाँ करोड़ों मन शाक की बाह्य हिंसा होती हो, तथापि उसमें अल्प हिंसा है क्योंकि उसे स्वभाव की प्रतीति है और कुदेवादि को माननेवाला जीव, त्यागी हो तथा वह एक भी हरी (वनस्पति) का घात न करता हो, तथापि उसके असत् को पुष्ट करने का अनन्त पाप होता है; वह निगोद के कारण का सेवन कर रहा है। और आत्मस्वभाव की प्रतीति के द्वारा सत् को सत् तथा असत् को असत् मानने से जिसके ज्ञान में विवेक जागृत हो गया हो, उसके पाप-परिणाम के समय भी भेदज्ञान विद्यमान है; इसलिये वह मोक्ष के कारण का सेवन कर रहा है। यहाँ कहीं पाप-परिणाम को मोक्ष का कारण नहीं कहा है, किन्तु अंतरंग में जो भेदज्ञान पाया जाता है, वही मोक्ष का कारण है।

(८४) आत्मा के स्वभाव की पहिचान करने के लिये देव, गुरु, शास्त्र का यथार्थ स्वरूप समझे बिना, चाहे जहाँ मस्तक नवाता फिरेगा तो उसे संसार की दुर्गतियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा। धर्म के लोभ से संपूर्ण आत्मा को कुदेव के समक्ष अर्पित कर देनेवाला, धर्म के स्थान में उल्टा पाप पुष्ट करता है। मिथ्यात्व को छोड़कर अन्य पाप तो अनन्तवें भाग हैं। जो आत्मा के शुद्धस्वभाव को दयादि विकारी भाववाला मानता है, जड़ की क्रिया से पुण्य-पाप मानता है, पुण्य में धर्म मानता है और यह मानता है कि व्यवहार करते-करते परमार्थ तक पहुँचा जा सकेगा, वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा के अनन्त गुणों का अनादर करनेवाला है, वह अनन्त काल तक महासंकट भोगता रहता है।

(८५) जीवों को मिथ्यात्व से छुड़ाने और यथार्थ आत्मप्रतीति प्राप्त कराने के लिये मिथ्यात्व के स्वरूप का स्पष्टतया वर्णन किया गया है। ज्ञानी को किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष नहीं है, किन्तु सत्य को समझाते हुए असत्य को असत्य के रूप में स्पष्टतया कहना पड़ता है। यदि सत् को सत् के रूप में और असत् को असत् के रूप में न कहा जाय तो जीव सत् और असत् का विवेक नहीं कर सकेगा और अनन्तकाल से जिसप्रकार असत् का सेवन कर रहा है, उसीप्रकार करता रहेगा। इसलिये ज्ञानीजन असत् का सेवन छुड़ाने के लिये कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का निषेध करते हैं।

(८६) यदि कोई जीव सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को पहिचानकर कुदेवादि का सेवन छोड़ दे तो उतने मात्र से धर्म नहीं हो जाता। उसने अभी निमित्त के रूप में सत् को स्वीकार किया है, उसमें अभी परावलम्बन विद्यमान है, इसलिये पुण्य है किन्तु धर्म नहीं है। जब वह परावलम्बन को छोड़कर स्वावलम्बन के द्वारा अपने सत् स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करता है, तब ऐसा अपूर्व धर्म प्रगट होता है जो अनन्तकाल में कभी प्रगट नहीं हुआ था। इस तेरहवीं गाथा में यह बात बताई गई है कि कुदेवादि को छोड़ने के बाद और सच्चे देव, गुरु, धर्म को पहिचानने के बाद सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है।

(८७) "जो कुत्सित धर्म में लीन हैं, कुत्सित पाखंड़ियों की भक्ति करता है तथा कुत्सित पाप करता है, वह जीव कुत्सित गति (कुगति) को भोगता है, इसलिये हे भव्य जीव! किंचित्मात्र लोभ अथवा भय से कुदेवादि का सेवन मत कर क्योंकि इससे अनन्तकाल तक घोर दुःखों को सहन करना पड़ता है, इसलिये ऐसा मिथ्यात्वभाव करना योग्य नहीं है। जैनधर्म में ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़वाकर फिर छोटा पाप छुड़वाया जाता है। इसलिये मिथ्यात्व को सप्तव्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छुड़ाया गया है, इसलिये जो पाप के फल से डरता हो तथा अपने आत्मा को दुःख सागर में डुबाना न चाहता हो, उस जीव को मिथ्यात्व का महापाप अवश्य छोड़ देना चाहिये। निन्दा-प्रशंसादि के विचार से भी शिथिल होना योग्य नहीं है।" (मोक्षमार्ग प्रकाशक)

(८८) आत्मा का सत् स्वभाव क्या है और सत् को कहनेवाला कौन है; यह जाने बिना आत्मा को धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। अज्ञानावस्था में अनन्तकाल व्यतीत हो गया, अब तो आत्मप्रतीति के द्वारा कुदेवादि का त्याग कर, क्योंकि वे आत्मघातक हैं। यदि आत्मा की रुचि हो तो जगत की रुचि का त्याग कर। जगत क्या कहेगा—इस ओर मत देख, किन्तु यह समझ कि आत्मस्वभाव क्या कहता है। आत्मस्वभाव जगत से निरपेक्ष है।

(८९) "कोई निन्दा करे या स्तुति करे, लक्ष्मी आये या जाये और मरण आज ही हो जाये युगान्तर में हो, किन्तु निन्दा-प्रशंसादि के भय से या लोभदि के अन्यथारूप मिथ्यात्व प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है। देव, गुरु, धर्म सर्वोत्कृष्ट पदार्थ हैं, इन्हीं के आधार से धर्म होता है, यदि इनमें शिथिलता रखे तो धर्म कैसे होगा? अधिक क्या कहें? कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का सर्वथा त्यागी होना योग्य है, क्योंकि कुदेवादि का त्याग न करने से मिथ्यात्व भाव अत्यधिक पुष्ट होता है। इस काल में

यहाँ उसकी अधिक प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिये यहाँ उसका निषेधरूप निरूपण किया है। इसलिये उसे जानकर मिथ्यात्वभाव को छोड़कर अपना कल्याण करो।'' (मोक्षमार्क प्रकाशक)

(९०) जिसके व्यवहार सत् मान्यता का भी ठिकाना नहीं है, उसे परमार्थ सत्य आत्मस्वभाव समझ में नहीं आ सकता। श्रीमद् राजचंद्रजी ने (पत्र संख्या २७७) में लिखा है कि—''आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना से विचार करने पर लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा और असत्संग कारण हैं। उन कारणों से उदासीन हुये बिना लोकसम्बन्धी नि:सत्व जप तपादि क्रिया में साक्षात् मोक्ष नहीं है, और परम्परा से भी मोक्ष नहीं है,-ऐसा माने बिना, आत्मस्वरूप के आवरण में मुख्य कारणभूत सत्वहीन असत् शास्त्र और असद् गुरु को साक्षात् आत्म-घातक जाने बिना जीव को आत्मस्वरूप का निश्चय होना महादुर्लभ है। प्रगट आत्मस्वरूप को कहनेवाले ज्ञानी पुरुष के ऐसे वचन भी उन कारणों से जीव को आत्मस्वरूप का विचार करने के लिये समर्थ नहीं होते। अब यह निश्चय करना चाहिये कि, जिसे आत्मस्वरूप प्राप्त है, उसके बिना अन्य कोई पुरुष उस आत्मस्वरूप को यथार्थतया कहने को समर्थ नहीं है, और उससे आत्मा को जाने बिना कल्याण का कोई दूसरा उपाय नहीं है। उस (आत्मज्ञ) पुरुष से आत्मा को जाने बिना मुमुक्षु जीव को इस कल्पना का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये कि मैंने आत्मा को जान लिया है ?

(९१) अनन्तकाल से विपरीत मान्यता बना रखी थी किन्तु अब सत् को सुनने के बाद क्या किसी के मन में यह विचार उठता है कि अब क्या करना चाहिये ? लोगों को ऐसा लगता है कि अभी तक जो कुछ मान रखा था, उसे यदि छोड़ देंगे तो लोक क्या कहेगा! किन्तु हे भाई! तू लोकसंज्ञा का त्याग करके स्वतत्व का आदर कर। लोक चाहे जो कहे, किन्तु तू लोकसंज्ञा से उदास हो जा। लोक तो वृथा ही चिल्ल-पों मचाता रहता है। जैसे मरण समय कोई सहायक नहीं होता, उसीप्रकार तेरे स्वतत्व के आदर को छोड़कर इस जगत में दूसरा कोई शरणभूत नहीं है, इसलिये लोकचिन्ता का त्याग करके आत्मकल्याण का मार्ग ग्रहण कर, सदा आत्म-स्वभाव की प्रतीति कर, आत्मस्वभाव में ही सन्तुष्ट हो और आत्मस्वभाव में ही तृप्त हो—ऐसा करने से तुझे आत्मस्वभाव के सुख का अनुभव होगा। आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता के बिना जप-तप इत्यादि बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है, उससे साक्षात् या परम्परा में मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

कुगुरु-कुदेव को साक्षात् आत्मघातक समझना चाहिये। उनकी सेवा करने से आत्मा के सर्वथा अधर्म की पुष्टि होती है। स्मरण रहे कि कुगुरु-कुदेव कहीं इस आत्मा को हानि नहीं

पहुँचाते, किन्तु उन असत् निमित्तों की ओर का अपना भाव ही मिथ्याभाव है, और उस मिथ्याभाव के द्वारा आत्मा का घात होता है। इसलिये कुदेवादि का सेवन आत्मा के आवरण का ही कारण है, उसका त्याग किये बिना जीव को आत्मस्वरूप का निर्णय होना अशक्य है। सत् स्वरूप को प्रगटतया कहनेवाले ज्ञानी पुरुषों के वचनों को सुनते हुए भी, कुदेवादि के सेवन से जीव अपने स्वरूप का विचार नहीं करता। यदि एक बार स्वछंद विचारों को छोड़कर-अपने आग्रह को दूर करके, ज्ञानी पुरुष द्वारा कहे गये सत् स्वरूप का यथार्थ विश्वास करके आत्मस्वरूप की श्रद्धा करे तो अनन्तकाल के जन्म-मरण का अन्त हो जाये।

(९२) जिसे आत्मरुचि प्रगट हो जाती है, उसे इस बात का निर्णय सहज ही हो जाता है, जिसे आत्मस्वभाव का भान नहीं है और जो विपरीतरूप से मानकर विराधना कर रहा है, उसके धर्मबुद्धि का आदर नहीं हो सकता। यह व्यक्ति का विरोध नहीं है, किन्तु अपने सम्यक्ज्ञान के लिये सत् और असत् को समझना चाहिये। सच्चे देव, गुरु, शास्त्र को मानना भी पुण्य है और नवतत्त्वों को समझना भी पुण्य है। इतना करने पर भी मिथ्यात्व दूर नहीं होता। जब देव, गुरु, शास्त्र से भिन्न और नवतत्वों के भेद से भी परमार्थतः भिन्न एक अखण्ड चैतन्यस्वभाव को अनुभव में लेकर उसकी प्रतीति करे, तब सम्यक्दर्शन प्रगट होता है। यह बात समयसार की तेरहवीं गाथा में समझाई गई है। (तेरहवीं गाथा के प्रवचनों को विशेष जानने के लिये 'समयसार प्रवचन' भाग १ देखना चाहिये।)

(९३) जिसे आत्मस्वरूप की जिज्ञासा जागृत हो जाती है, वह जीव मिथ्या देव, गुरु, शास्त्र को सर्वप्रथम छोड़ देता है। किन्तु जबतक सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के लक्ष में अटका रहता है, तबतक भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। देव, गुरु, शास्त्र के लक्ष से राग होता है तथा नवतत्वों का विचार करने पर भी राग होता है और राग अभूतार्थ है, इसलिये देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा या नवतत्वों की श्रद्धा का होना यथार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। भूतार्थस्वरूप के लक्ष से राग करके परमात्मस्वरूप प्रगट होता है। उसे प्रगट करने के लिये क्या करना चाहिये ? पहले देव, गुरु, शास्त्र और नवतत्त्वों के विचार का राग होता तो है किन्तु उसके द्वारा एकत्व आत्मस्वभाव की प्राप्ति नहीं होती, ऐसा निर्णय करके शुद्धनय के द्वारा अर्थात् भूतार्थदृष्टि से त्रैकालिक तत्व में उन्मुख होकर एकत्व को प्राप्त करने पर शुद्धनयरूप से स्थापित दृष्टि से आत्मानुभूति प्रगट होती है। यह अनुभूति ही आत्म-साक्षात्कार हैं, यही सम्यग्दर्शन है, यही स्वानुभव है, और यही प्रथम धर्म है; यही परमात्मस्वरूप को प्रगट करने

का उपाय है। इस अनुभूति का लक्षण आत्मख्याति है, अर्थात् जैसा आत्मा का भूतार्थ स्वभाव है, वैसा ही अनुभूति के द्वारा प्रगट होता है—ख्याति को प्राप्त होता है—प्रसिद्ध होता है। ऐसे आत्मस्वभाव की प्रसिद्धि के बिना (अर्थात् सम्यक्दर्शन के बिना) अपने माने गये जो त्याग, तप, व्रतादि करता है, वह सब अरण्यरोदन के समान वृथा है, उससे संसार की ही सिद्धि होती है, आत्मा की नहीं।

(९४) जब भरतक्षेत्र में धोख धर्मकाल प्रवर्तमान था, तब आठ बरस की बालिकाऐं भी ऐसे परमार्थ आत्मस्वभाव को समझकर सम्यक्दर्शन प्रगट कर लेती थीं। जब इन्द्र उनकी परीक्षा करने आता था, उसे भी वे भलीभांति तत्व सम्बन्धी उत्तर देती थीं। ऐसी निःशंक आत्मश्रद्धा राजवैभव में रहनेवाली आठ बरस की राजकुमारी भी कर सकती थी, तब फिर बड़ी आयु के पुरुषों को तो लज्जित होना चाहिये और विशेष रुचि के द्वारा अधिक पुरुषार्थ करना चाहिये। हे भाई! जब कि दुनियादारी के कामकाज में बुद्धि काम करती है, तब फिर अपने ही आत्मा का ज्ञान करने के लिये बुद्धि क्यों काम नहीं करेगी? अपने आत्मा को सभी आबाल वृद्ध समझ सकते हैं। भले ही कोई जगत की पढ़ाई को न पढ़ा हो, तथापि वह सत् समागम से आत्मरुचि के द्वारा आत्मा को समझकर धर्म प्राप्त कर सकता है।

(९५) हे जीव! यदि तूने शुद्ध आत्मस्वरूप को समझकर निश्चय सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं किया तो मानव जीवन को प्राप्त करके क्या किया? धर्महीन जीवन धूल के समान है। इस परमार्थतत्त्व को समझे बिना द्रव्यलिंगी दिगम्बर मुनि हो और पाँच महाव्रत पालन करे तो भी उसकी स्थिति मोक्षाभिमुख नहीं है किन्तु वह अज्ञानी है, संसाराभिमुख है, मिथ्यात्व के अनन्त पाप में फँसा हुआ अधर्मी है! और जिसने परमार्थ आत्मस्वभाव को जाना है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव राजपाट के संयोग में अथवा युद्ध में रहता हुआ भी मोक्षमार्गाभिमुख है, आत्मस्वभाव का आराधक है। वह प्रतिक्षण संसार के बन्धन को काट रहा है, तथा वह साधक धर्मात्मा है।

(९६) जिज्ञासु को कुदेवादि की भक्ति तो होती ही नहीं किन्तु वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति को भी राग मानता है, उसे वह धर्म नहीं मानता। वास्तव में कोई पर की स्तुति नहीं करता, किन्तु अपने भाव में जो गुण अनुकूल पड़ते हैं, उन्हीं के गीत गाता है। वास्तव में तो गुणों की रुचिरूप भाव ही स्तुति है। पैसे का लोभी धनवान का आदर करता है—ऐसा कहा जाता है, किन्तु वास्तव में वह धनवान का आदर नहीं करता, किन्तु स्वयं धन के प्रति प्रीति है, इसलिये वह अपने

भाव का ही स्वयं आदर करता है, जिसे आत्मा के वीतरागभाव की रुचि है, वह वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के गीत गाता है, और जिसे आत्मा के वीतरागस्वभाव का आदर नहीं है किन्तु राग का आदर है, वही कुदेवादि की वन्दना करता है। जो कुदेवादि की वन्दना करता है, वह वीतराग जिनेन्द्रदेव के पंथ का नहीं है। जिसे अपने मात्र में ही राग जमा हुआ है, वह रागी देव को मानता है। वीतराग देव को राग अथवा राग के निमित्त (आहार, वस्त्र, औषधि इत्यादि) नहीं होते तथा राग की रुचिवाले जीव उनमें भी राग और राग के निमित्तों की कल्पना करते हैं, वे जीव वास्तव में अपने वीतरागभाव का ही अनादर कर रहे हैं और व्यवहार से वीतरागदेव का अनादर कर रहे हैं। वास्तव में कोई जीव अपनी चैतन्य भूमिका में दूसरे का आदर या अनादर नहीं करता, किन्तु यथार्थ समझ के द्वारा अपने ही गुणों का आदर करता है, और उसके अभाव में अपने ही गुणों का अनादर करता है।●

जीवदया का स्वरूप

[पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

१—सबसे पहले यह समझना चाहिये कि जीव क्या है और जीव की दया क्या है? जीव चैतन्यस्वरूप है, और शरीरादिक अजीव हैं, उनसे जीव भिन्न है। चैतन्यस्वरूप जीव को विकारी भावों से बचाने का नाम ही जीवदया है। यह परिभाषा यथार्थ नहीं है कि जीव और शरीर पृथक् हो जायें, सो जीवहिंसा है तथा जीव और शरीर का संयोग बना रहे, सो जीवदया है। जो विकार से भिन्न शुद्ध जीवस्वभाव को नहीं जानता, वह जीव अपने को विकार से कैसे बचा सकेगा? अर्थात् अपने शुद्धस्वभाव को जाने बिना जीवदया का पालन नहीं किया जा सकता।

२—सम्यग्दृष्टि ही सच्ची जीवदया का पालन कर सकते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं। दया तो जीव की पाली जाती है; किन्तु जो जीव को ही नहीं पहचानते, वे जीव की दया कैसे पालन कर सकेंगे?

३—जो यह मानता है कि जीव का शरीर के साथ संयोग बना रहे, सो जीवदया कहलाती है, वह जीव-स्वभाव को ही नहीं जानता; अर्थात् वह जीव की रक्षा को जीवदया नहीं मानता, किन्तु शरीर की रक्षा को जीवदया मानता है।

४—जब कि जीवदया का पालन करना है, अर्थात् जीव को विकारीभावों से बचाना है, तब फिर जो शुभाशुभभावों को अपना कर्तव्य मानता है, वह जीव उन शुभाशुभभावों से जीव को कैसे बचा सकेगा? जबतक जीव, शुभाशुभ विकारीभावों को अपना मानता है, तबतक जीवदया का पालन नहीं कर सकता, किन्तु वह विकार की (पुण्य-पाप की) दया का पालन करता है, अर्थात् विकार को अपना मानकर विकार की (पुण्य-पाप की) रक्षा करता है, और जीव के चैतन्यप्राण की हिंसा करता है। तात्पर्य यह है कि जिसे जीवस्वभाव और विकार के बीच का भेदज्ञान प्रगट नहीं हुआ है, वह जीव कभी भी जीवहिंसा से नहीं बच सकता, और जीवदया का पालन नहीं कर सकता।

५—जीवदया में प्रथम 'जीव' शब्द है। यदि जीवपदार्थ को जाने तो उसकी दया का पालन करे। शरीर तो जड़ है; उसकी न तो दया होती है और न हिंसा। जहाँ 'एकेन्द्रियजीव' कहा है, वहाँ 'एकेन्द्रिय' तो वास्तव में शरीर है, जो कि जड़ है, और जीव उस एकेन्द्रिय शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप है। इसप्रकार पहले जड़ और जीव को पृथक् जानना चाहिये।

६—जगत् में जितने जीवद्रव्य हैं, वे सब अपनी-अपनी गुण-पर्याय सहित हैं! वे सब शरीर से त्रिकाल भिन्न ही हैं, और वे जीवरूप से ही त्रिकाल अस्तिरूप हैं। उनके जीवत्व का कभी नाश नहीं होता। इसलिये मैं परजीवों की न तो रक्षा कर सकता हूँ और न उन्हें मार ही सकता हूँ। जब कि शरीर के वियोग से जीव का नाश नहीं होता, तब फिर दूसरा कोई जीव उसे बचाये या मारे,—यह बात ही कैसे हो सकती है। उस जीव की पर्याय उससे स्वतः ही होती है। वह अपनी पर्याय में जितना विकार करता है, उतनी ही उसकी हिंसा होती है, और अपने को विकार से जितना बचाता है, उतनी ही उसकी जीवदया है। यदि इसप्रकार जीव को पहचाने और जीवदया के स्वरूप को समझे तो यह मिथ्या मान्यता दूर हो जाय कि—मैं परजीव को मारता हूँ या बचाता हूँ। स्वयं अपने जीवस्वभाव को पर से और विकार से भिन्नरूप श्रद्धा में स्थिर बनाए रखना ही सच्ची जीवदया है। श्रद्धा की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टियों के परिपूर्ण जीवदया होती है, क्योंकि वे विकार के एक अंश को भी जीव का नहीं मानते। और चारित्र की अपेक्षा से जितना विकार है, उतनी हिंसा है।

७—जिसने जीवतत्व को विकाररूप कल्पित कर रखा है, उसने विकार से भिन्न जीवतत्व का नाश किया है, अर्थात् समस्त जीवतत्व की हिंसा की है। भले ही उस जीव के निमित्त से बाह्य में किसी जीव की हिंसा न होती हो और उसके अशुभभाव नहीं हो रहे हों, तथापि ज्ञानी कहते हैं कि वह जीवहिंसक है। जैसे उसने अपने जीवतत्व को विकार से लाभ होना माना है, उसीप्रकार उसने सभी जीवों को विकार से लाभ होना माना है, अर्थात् उसने समस्त जीवों को विकारी माना है और उन्हें चैतन्यरूप नहीं माना है। इसप्रकार उसने अपनी इस विपरीत मान्यता से अनन्त जीवों की हिंसा की है।

८—'जीवदया' में जीव को टिका रखता है या विकार को? जीव को जीवरूप में टिका रखना और उसे विकाररूप न होने देना, सो जीवदया है और जीव को जीवरूप में न जानकर विकारी तथा शरीरवाला मानना, सो जीवहिंसा है।

तुझे यह खबर भी है कि जीव किसे कहते हैं? जीव अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्तगुणों का पिण्ड है। प्रत्येक जीव अपने गुणों से परिपूर्ण है। वे परजीव अपने स्वभाव को पहचानकर पर्याय में शुद्धता प्रगट करें तो उनकी दया हो, किन्तु उसमें मेरा कुछ नहीं चल सकता,—यह जानकर ज्ञानी अपने आत्मा को विकार से बचाते हैं,—यही जीवदया है।

९—अज्ञानी जीव अपने जीवस्वभाव को नहीं जानता, इसलिये उसके, प्रतिक्षण पर्याय में जीवहिंसा होकर विकार की उत्पत्ति होती रहती है और ज्ञानी जीवों को विकार से भिन्न अपने जीव स्वभाव की प्रतीति है, इसलिये विकार के समय भी वे जीवस्वभाव को विकार से भिन्न बनाये रखते हैं, इसलिये उनके, प्रतिक्षण निर्मलदशा की वृद्धि और विकार का नाश होता रहता है,-यही जीवदया है।

१०—जो यह उपदेश देता है कि 'पुण्य से धर्म होता है' वह मानो जीवतत्व को विकारीभाव के साथ एकमेक मनवाना चाहता है, भिन्न नहीं, अर्थात् वह वास्तव में जीवहिंसा का उपदेशक है, न कि जीवदया का।

११—किसी भी विकारी वृत्ति से जीव के धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का स्वभाव विकार से भिन्न है। इसप्रकार यथार्थ समझने का नाम जीवदया है। जीवस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता के द्वारा विकार की उत्पत्ति को न होने देने का नाम जीवदया है, और ऐसी जीवदया धर्म है। किन्तु अज्ञानी जीव, परजीवों को बचाने की शुभवृत्ति को जीवदया कहते हैं। वास्तव में उस

शुभभाव से जीवदया नहीं किन्तु जीवहिंसा ही होती है। उस शुभभाव से आत्मा का लाभ मानना अथवा मैं परजीव को बचा सकता हूँ; ऐसी मिथ्या-मान्यता सबसे बड़ी जीवहिंसा है।

१२—इसलिये जो अनन्तकाल से चली आनेवाली इस महान जीवहिंसा को दूर करके सच्ची जीवदया प्रगट करना चाहते हों, उन्हें सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा अपने जीवस्वभाव को विकार से भिन्नरूप जानना (पहचानना) चाहिये।....सम्यग्दर्शन से सच्ची जीवदया का प्रारम्भ हो सकता है।●

सूचना

कृपया आत्मधर्म का वार्षिक चन्दा मनिआर्डर से भेजें। कारण कि यहाँ से वी.पी. बहुत कम ली जाती है जिससे समय अधिक लग जाता है। आशा है आप अपना चन्द मनिआर्डर द्वारा ही भेजेंगे। — व्यवस्थापक

जिनशासन की प्रभावना

[अष्टपाहुड़ गाथा ११ पर प्रवचन]

इस जगत में चेतन तथा जड़ वस्तुऐं सत् हैं। सत् वस्तु को दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। सत् वस्तु स्वतः स्वतंत्र है। जो सत् वस्तु के लिये अन्य पदार्थों की आवश्यकता समझता है, वह स्वतंत्र सत् को ही नहीं जानता। वस्तु को स्वतंत्र कहना, और फिर उसके लिये अन्य पदार्थों की सहायता की आवश्यकता मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। जो वस्तु सत् होती है, वह अन्य वस्तुओं से निरपेक्ष होती है। उसे अपने कार्य के लिये परवस्तु की आवश्यकता नहीं होती। वस्तु अपने स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है।

अज्ञानी जीव मानता है कि—"मैं अपने जीवन में दूसरे जीवों का कुछ भला कर दूँ, तो अपना जीवन सार्थक हो जाय; भले ही अपने जीवन में अपना भला न हो, किन्तु मेरे द्वारा जिनशासन की प्रभावना हो और समाज का कल्याण हो तथा दूसरे जीव, धर्म प्राप्त करें—ऐसी

प्रवृत्ति करूँ!'' किन्तु ऐसा माननेवाले अज्ञानी की दृष्टि ही पर के ऊपर है, और वह ऐसे घोर अहंकार से भरपूर है कि मैं परपदार्थों का कुछ कर सकता हूँ—उनका भला कर दूँ, इसीलिये वह यह मानता है कि मैं जिनशासन को स्थिर रखने के लिये बहुत कुछ करता हूँ। किन्तु हे भाई! तूने क्या किया है? परजीवों में तो तूने कुछ किया नहीं है, मात्र तूने अपने में शुभराग किया है, और परजीवों के कर्तृत्व का अभिमान करके मिथ्यात्वभाव को पुष्ट किया है। तूने शुभराग से जिनशासन की प्रभावना मान रखी है, किन्तु जिनशासन तो वीतरागतामय है। तूने राग के द्वारा वीतरागी जिनशासन की प्रभावना मानकर वीतरागतामय जिनशासन को रागमय मानकर उल्टी उसकी अप्रभावना ही की है। यदि कोई राग के अंश से भी स्व-पर का लाभ माने-मनवाये तो वह जीव, वीतराग-जिनशासन का विरोधी है।

और फिर यह तो विचार करो कि जिनशासन स्वतंत्रता में है या परतंत्रता में? प्रत्येक वस्तु सम्पूर्ण स्वतंत्र है—ऐसा न मानकर जो यह मानता है कि 'मेरे कारण परजीवों का हित होता है' वह प्रकारान्तर से परजीवों को स्वतंत्र नहीं मानता, अर्थात् वह जिनशासन को ही नहीं मानता, अथवा यों कहना चाहिये कि वह वस्तुस्वभाव को ही नहीं मानता। यह बात जिनशासन सम्मत नहीं है कि-एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ भी कर सकती है।

अज्ञानी जीव वीतराग जिनशासन को रागमय मानता है, और यह मानता है कि मैं शुभराग के द्वारा शासन की प्रभावना करता हूँ। किन्तु वास्तव में तो राग के द्वारा वीतराग शासन टिक ही नहीं सकता। भला, वीतरागशासन अर्थात् जैनशासन वीतरागभाव से टिकेगा या रागभाव से? और जैनशासन में स्वतंत्रता है या परतंत्रता? जो यह मानता है कि-शुभराग से जिनशासन स्थिर है, अथवा मैं पर जीवों को धर्म समझा दूं, वह एक प्रकार से जिनशासन की अप्रभावना करता है, अर्थात् वह अपने आत्मस्वभाव की विराधना करता है। इससे विपरीत, मैं पर का कुछ नहीं कर सकता, और राग से लाभ नहीं हो सकता, इसप्रकार पर से भिन्न और रागरहित अपने स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक जितने अंशों में राग दूर करके जीव वीतरागता प्रगट करता है, उतने ही अंशों में जिनशासन की प्रभावना होती है।●

गोसलिया का दृष्टान्त और आत्मस्वभाव

[पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से]

एक बार श्रीमद्राजचन्द्रजी ने 'गोसलिया' का दृष्टान्त दिया था कि—एक गाँव में एक स्त्री का गोसलिया नामक पुत्र था, जिसका बाप मर चुका था। गोसलिया की माँ सामान्य स्थिति की महिला थी। जब गोसलिया लगभग १२ वर्ष का हुआ, तब उसकी माँ ने उसे कुछ रुपया देकर कहा कि बेटा! तू अपने पास के शहर में जा, और वहाँ से कुछ माल खरीद कर व्यापार कर, जिससे अपनी गुजर चलती रहे। लड़के ने कहा कि माँ! मैं शहर में जाने को तैयार हूँ, किन्तु यदि तेरा यह गोसलिया वहाँ के बड़े बाजार में भारी भीड़भाड़ में कहीं खो गया तो? यह सुनकर माँ ने कहा कि अरे! बेटा! तू स्वयं गोसलिया है, गोसलिया कहीं खो नहीं सकता। फिर भी यदि तुझे कहीं गोसलिया के खो जाने की शंका हो तो मैं तेरे हाथ में यह धागा बाँधे देती हूँ, इसे देखकर निश्चित कर लेना कि मैं गोसलिया हूँ। यह कहकर उसने गोसलिया के हाथ में सूत का एक धागा बाँध दिया, और गोसलिया शहर को चल दिया।

गोसलिया के पास थोड़ी रकम थी, इसलिये वह हल्दी-मिर्च इत्यादि खरीदना चाहता था, किन्तु वह सट्टा बाजार में जा पहुँचा, जहाँ बहुत भीड़भाड़ थी। उस भारी भीड़भाड़ में लोगों की धक्कामुक्की में गोसलिया के हाथ का वह धागा कहीं छूट कर गिर गया, और वह वहाँ से भागा तथा पंसारी बाजार में गया, जहाँ हल्दी-मिर्च मिलती है। वहाँ भीड़भाड़ बहुत कम थी, इसलिये वहाँ पहुँचे गोसलिया ने सोचा कि उस बड़ी भीड़ में गोसलिया कहीं खो तो नहीं गया? और फिर उसने अपने हाथ की ओर देखा। हाथ में वह धागा न देखकर चिल्ला उठा कि—'हाय रे हाय! गोसलिया तो कहीं खो गया!' और इसप्रकार वह सारे नगर में गोसलिया को ढूंढ़ता फिरा। शाम तक चक्कर लगाता फिरा, फिर भी गोसलिया का कहीं पता नहीं लगा। क्योंकि उसकी माँ ने कहा था कि अपने हाथ में धागा बंधा हुआ देखकर गोसलिया का निश्चय कर लेना, किन्तु उसे हाथ में वह धागा दिखाई नहीं दिया। जब कि वह स्वयं गोसलिया था और उसे वह बाहर-ढूंढ रहा था, तो भला वह कहाँ से मिल जाता?

अन्त में शाम को हार-थक कर उसने सोचा कि—इस शहर की भीड़-भाड़ से घबड़ा कर कहीं गोसलिया अपने गाँव तो नहीं चला गया? इसलिये उसे अब गाँव में जाकर ढूंढ़ना चाहिये।

यह विचार कर वह गाँव को चल दिया, और वहाँ-घर पहुँच कर अपनी माता से बोला कि-माँ! गोसलिया तो खो गया। मैंने उसे दिन भर ढूंढा किन्तु वह नहीं मिला सो नहीं मिला! यह सुनकर उसकी माता ने कहा कि भाई! तू थक गया होगा, इसलिये सो जा, अब कल सबेरे गोसलिया को देखेंगे।

जब गोसलिया सो गया, तब उसकी माँ ने उसके हाथ में पहले जैसा ही धागा बाँध दिया। जब गोसलिया जागा, और उसने अपने हाथ में धागा देखा, तो प्रसन्न होकर बोला -'माँ! गोसलिया मिल गया।' माँ ने कहा कि बेटा! गोसलिया कहीं खोया नहीं था; गोसलिया तो गोसलिया में ही था। जब धागा बंधा हुआ था, तब भी वही था, और धागे के टूट जाने पर भी वही था। किन्तु तुझे भ्रम हो गया था, इसलिये तू बाहर ढूंढ़ता फिरता था।

यह एक दृष्टान्त है। अब, इसे घटित सिद्धान्त को आत्मा पर लगाना चाहिये, जो इसप्रकार है:—

गोसलिया से यहाँ अज्ञानी जीव लेना चाहिये, जिसे अनादिकाल से अपने स्वरूप की खबर नहीं है। जब उसे धर्मश्रवण की इच्छा हुई, तब सद्गुरु ने उससे कहा कि भाई! धर्म को समझ, उसके बिना न जाने कहाँ परिभ्रमण करता रहेगा? इसलिये कुछ धर्म का व्यापार कर तो शांति प्रगट हो। यह सुनकर आत्मा को समझने के लिये कुछ भी परिश्रम या प्रयास करने से पूर्व गोसलिया जैसा अज्ञानी जीव कहता है कि-प्रभो! धर्म को समझना तो है, किन्तु यदि बहुत से कर्मों का उदय आ गया और आत्मा को भूल गया, तो क्या करना चाहिये? यदि धर्म का व्यापार करते-करते कर्मों की भीड़ के बीच में संपूर्ण आत्मा स्वयं ही खो गया तो क्या करना चाहिये? इसप्रकार धर्म करने से पूर्व ही अज्ञानी को ऐसी शंका उठती है, तब फिर वह धर्म कैसे करेगा?

सद्गुरुदेव उससे कहते हैं कि-रे कापुरष! तुझे अपने आत्मा की श्रद्धा नहीं है? तुझे अपने चैतन्यतत्त्व की शक्ति भासित नहीं होती? और तुझे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं है? जिसे जीव की प्रतीति है, उसे गिरने या खोने की शंका नहीं होती। अपने जीवस्वभाव को भूलकर अपने को विकारी और अजीव मानने पर ही गिरना-खोना होता है। जो जीव गिरे या भूले हैं, वे जीव को भूले हुये हैं। जो जीवद्रव्य की प्रतीति करके अजीव से पृथक्रूप में अपने स्वभाव में स्थिर होता है और यह प्रतीति करता है कि मेरे तत्व में त्रिकाल में भी अजीव का प्रवेश नहीं है; उसे गिरने या भूलने की शंका नहीं होती। तथापि अज्ञानी कहता है कि यदि आगे चलकर कर्मों का तीव्र उदय आया और कहीं गिर गये या भूल-भटक गये तो क्या होगा? इसलिये श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई! हम तुझे

सम्यक्श्रद्धारूपी धागा बांधे देते हैं, उससे तू अपने आत्मा को विकार से और कर्मों से पृथक् जान लेना। तू परम पारिणामिक-निर्मलस्वभाव है, ज्ञानस्वरूप है; तेरे ज्ञान में अज्ञान नहीं हो सकता, पुण्य-पाप नहीं हो सकता, मिथ्यात्व नहीं हो सकता, कर्म नहीं हो सकते। ऐसे अपने ज्ञानस्वभाव को सभी से भिन्नरूप प्रतीति में स्थिर बनाये रखना, जिससे तेरा आत्मा खो न जाय, तुझमें अज्ञान का प्रवेश न हो सके और तू मुक्तिमार्ग पर प्रयाण करता हुआ पीछे न हटे।

किन्तु अज्ञानी को राग में निजत्व का भ्रम हो जाता है, इसलिये वह यह मानने लगता है कि मानो राग ही आत्मा है; और वह राग से भिन्न आत्मस्वभाव को भूल जाता है। उसे भ्रम हो जाता है कि जो यह राग हुआ है, उसमें मेरा आत्मा खो गया है। ज्ञानीजन उससे कहते हैं कि हे भाई! तू शान्त होकर अपने स्वरूप को देख। राग के समय भी तेरा स्वभाव तो ज्यों का त्यों-वैसा ही है, किन्तु तुझे राग में एकत्व का भ्रम हो गया है, इसलिये तेरा भिन्नस्वभाव तेरे अनुभव में नहीं आता। तेरा स्वभाव तो त्रिकाल चैतन्यस्वरूप है; तू उस चैतन्यस्वरूप लक्षण के द्वारा अपने आत्मा को पहचान ले। तेरा यह चैतन्यलक्षणस्वरूप आत्मा तो राग के समय भी उससे भिन्न स्वभाव से रहनेवाला है। इसलिये तू इस भ्रम को छोड़ दे कि आत्मा खो सकता है या वह विकारी है। और तू अपने स्वभाव को मान-समझ।

जब श्रीगुरु इसप्रकार बारंबार समझाते हैं, तब पात्र जीव स्वाभिमुख होकर चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से आत्मस्वरूप को समझता है, और तब उसे प्रतीति होती है कि अहो! मैं आत्मा तो सदा परिपूर्ण शुद्धस्वभाव ही हूँ, मेरा स्वभाव तो कभी किसी में मिल ही गया था, और न कभी विकारी हुआ था। इसप्रकार त्रैकालिक स्वभाव को समझ लेने के बाद, और उसकी प्रतीति करने पर उसे कभी भी कर्मों से गिरने या भूलने-भटकने की शंका नहीं रहती।

जैसे धागे के छूट जाने पर भी गोसलिया तो गोसलिया ही था, और जब उसके हाथ में धागा बंधा हुआ था, तब भी वह वही था, किन्तु वह भ्रमवश भूल गया था; इसीप्रकार विकार के समय भी जीव का स्वभाव तो वैसा का वैसा ही रहता है, किन्तु अज्ञानी उसे भूल रहा है। ज्ञानी उसे वह बतलाते हैं। भ्रम दूर होकर यथार्थ प्रतीति होने पर जीव स्वयं अपने परिणामिकभाव को पहचानता है, और उस पारिणामिकभाव के लक्ष से अनादिकालीन औदयिकभाव दूर होकर औपशमिकादि-भाव प्रगट होते हैं। श्रीगुरु उस पारिणामिकभाव की पहचान कराते हैं। यदि जीव अपने पारिणामिकभाव का श्रद्धारूपी धागा आत्मा के साथ बांध ले तो वह संसार में खो नहीं सकता, अर्थात् उसकी अवश्य ही मुक्ति होती है।●

श्रीकुंदकुंद वाणी

[अष्टपाहुड-मोक्षपाहुड पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों में से]

(१) पंचपरमेष्ठी का स्वरूप समझकर उनके स्मरण-वन्दनादि से विघ्न दूर हो जाते हैं,- ऐसा कहा गया है; वहाँ विघ्न का अर्थ बाह्यसंयोग नहीं समझना चाहिये, किन्तु आत्मा में से उस समय तीव्र कषाय दूर हो जाती है, और तीव्र कषाय ही विघ्न है। उस विघ्न का पंचपरमेष्ठी के स्मरण के नाश हो जाता है। ऐसा संयोग भी मिल सकता है कि एक ओर तो पंचपरमेष्ठी का ध्यान किया जा रहा हो और दूसरी ओर उसी समय बाहर से सिंह शरीर को फाड़े खा जा रहा हो! किन्तु यह संयोग कोई विघ्न नहीं है। हाँ, उस समय पंचपरमेष्ठी के स्मरण से उस संयोग का लक्ष छूट जाता है, और पापभाव दूर हो जाता है, वही विघ्न का दूर हो जाना है। बाह्य-संयोग रहे या दूर हो जाय, उससे कोई संबंध नहीं है।

(२) चैतन्य की पर्याय में जो विकार होता है, उसे जाने और उस विकाररहित चैतन्यस्वभाव को जाने, तब भेदज्ञान होता है। देहादिक जड़ की क्रिया से भिन्न और मिथ्यात्वादि विकार से रहित चैतन्यस्वभाव की प्रतीति तथा ज्ञान करना ही मोक्ष का प्रथम उपाय है।

(३) ऐसी सम्यक् आत्मप्रतीति होने पर परद्रव्यों के प्रति जो शुभाशुभ वृत्तियां होती हैं, उन सबको संसार का कारण जानकर वीतराग भावना के द्वारा उन विकारी वृत्तियों को छोड़कर जीव निर्ग्रंथ मुनि होता है, और अपने स्वभाव के अनुभव में स्थिर होने का साधन करता है।

(४) चैतन्य आत्मधर्म सहज और सुलभ है। सहज का अर्थ है स्वभाव में से प्रगट हुआ; उसमें विभाव की अपेक्षा नहीं है। जो सम्यग्दर्शन और चारित्र को दुखदायक मानता है, वह चैतन्यस्वभाव को ही दुःखदायक मानता है। सम्यग्दर्शनादि सुखरूप है; वह सम्यक्-पुरुषार्थ से प्रगट होता है। (अपूर्ण)

WANTED

A Thesis On Jainism

Pandit F. K. Lalan invites a thesis in English on 'Jainism' and declares that he will donate through the Jain Swadhyay Mandir, Songad Rs. 300 to the person who gets the first number and Rs. 200 to the person who gets the second number on the following conditions :-

1. The thesis must clearly deal with following subjects :-

(a) Jainism is not a sectarian view but propounds the true state of affairs of all the objects of the universe,

(b) The principle of Anekanta and Syadvad,

(c) The principle of true (Nishchaya) and conventional (Vyavahara) view-points,

(d) Upadana (real) cause and Nimit (not real but a mere conventional) cause,

(e) Substances, attributes and conditions (द्रव्य-गुण-पर्याय),

(f) Each substance is doing its own action independently without the hlep or assistance of any substance. The principle may be termed (कर्तृत्व) law of action.

(g) Each substance changes its condition every momen in regular sequence (क्रमबद्ध पर्याय) so as to include five samavayas, at the same time.

2. The thesis must contain foolscap pages 75 in the least either written or typewritten on one side.

3. The thesis must be based on the principles propounded by Bhagwan Shri Kundakundacharya Deva and explained by Maharaj Shri Kanji Swami at Songad.

4. If any writer desires to listen to the lectures of Maharaj Shri Kanji Swami at Songad, arrangements will be made for them.

5. Literature, on this subject may be had from Songad on payment.

6. The Swadhyaya Mandir Trust will examine the thesis and declare its result. Its decision will be final.

7. The thesis must reach the Jain Swadhyaya Mandir by 31 December 1948.

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.०८-०७-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड